कूर्म पुराण

कूर्म पुराण

[प्रथम खण्ड]

(सरल भाषानुवाद सहित)

卐

प्रकाशक :

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट् दर्शन,
२० स्मृतियां और १८ पुराणों के
प्रसिद्ध भाष्यकार ।

卐

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली–२४३००३ (उ०प्र०)

फोन नं० ७४२४२

प्रकाशक :
डॉ० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)
बरेली २४३००३ (उ० प्र०)
फोन : ७४२४२

❀

सम्पादक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

❀

❀

संशोधित संस्करण :
सन् १९८६

❀

मुद्रक :
शैलेन्द्र बी० माहेश्वरी
नव ज्योति प्रेस
सेठ भीकचन्द मार्ग, मथुरा

❀

मूल्य :
उन्नीस रुपये मात्र

भूमिका

'नारद पुराण' में दिये गये 'पुराण-परिचय' के अनुसार 'कूर्म-पुराण' सत्रह हजार श्लोकों का है और चार संहिताओं (१-ब्राह्मी, २-भागवती, ३-सौरी, ४-वैष्णवी) में बँटा हुआ है। 'कूर्म-पुराण' के प्रथम अध्याय में ही दिये गये एक श्लोक के अनुसार इन चार संहिताओं की रचना का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थों की सिद्ध करना है—

ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्तिताः।
चतस्रः संहिता पुण्या धर्म कामार्थ मोक्षदाः॥

पर काल प्रभाव से इस समय 'कूर्म-पुराण' का सम्पूर्ण ग्रन्थ प्राप्त हो सकना असम्भव हो गया है। कुछ समय पूर्व कलकत्ता के एक धर्मानुरागी सेठजी ने आर्थिक सहायता देकर बहुत से पुराण मूल रूप में छपाये थे। उन्होंने भारतवर्ष के अनेक प्राचीन और प्रसिद्ध पुस्तकालयों से लिखा पढ़ करके सम्पूर्ण 'कूर्म-पुराण को प्राप्त करने की बड़ी चेष्टा की, पर उनको सफलता न मिल सकी। इसी प्रकार भारत के पौराणिक इतिहास का विवेचन करने वाले डा० विल्सन को भी बहुत प्रयत्न करने पर केवल यह छः हजार श्लोकों वाली 'ब्राह्मी संहिता' ही प्राप्त हो सकी थी।

कुछ भी हो 'कर्म-पुराण' जिस रूप में आजकल प्राप्त है, वह निश्चय ही एक उत्तम पुराण की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं। उसमें अधिकांश प्रचलिल पौराणिक वर्णनों को अधिक अच्छे रूप में और साथ ही सार रूप में लिखा गया है, जिससे थोड़े स्थान में ही अधिक जानकारी का समाबेश हो गया है। इसके पूर्वार्ध में सृष्टि की उत्पत्ति, ब्रह्माजी का उद्भव, रुद्र सृष्टि, देवी (माया) का अवतार, दक्ष का वंश विस्तार, कश्यप-वंश, ऋषिवंश, राजवंश, इक्ष्वाकुवंश (सूर्य वंश), सोम वंश (चन्द्रवंश) आदि का वर्णन भी इतने स्पष्ट रूप से किया है, कि पाठक को अनेक बातों का (ज्ञान स्पष्ट रूप में स्वयं होने लग जाता है। जिन

कथाओं और वर्णनों को अन्य कई पुराणों में बहुत घुमा-फिरा कर अथवा चमत्कारी बनाकर कहा गया है उनको 'कूर्म-पुराणकार' ने बहुत सीधे-सादे ढङ्ग से कह दिया है। उन्होंने स्वयं कहा है कि इसमें सर्ग, प्रतिसर्ग देव और ऋषिवंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित्र तथा पुण्य कथाएं—पुराणों के पांचों लक्षण उचित परिणाम में पाये जाते हैं और हमारा विश्वास है कि इस पुराण का स्वाध्याय करके पाठक भी इस कथन की सचाई का अनुभव करेंगे।

सृष्टि वर्णन की स्वाभाविकता—

पुराणों में सृष्टि की आरम्भिक अवस्था का वर्णन करने में रूपक और अलंकारों का बहुत अधिक प्रयोग किया है। उसमें सूर्य, ग्रह, पर्वत, नदी आदि की उत्पत्ति का वर्णन भी इस प्रकार किया है, जैसे वे भी कोई प्राणी हों।

जब हम पुराणों में कश्यप-वंश का वर्णन पढ़ते हैं तो स्पष्ट मालूम होता है कि कश्यप जी और उनकी पत्नियां-दिति, अदिति, विनता, कद्रू आदि मानव या अन्य जीवधारी न होकर प्रकृति की विभिन्न अवस्थाएं हैं जिनसे क्रमशः पंच भौतिक जगत तथा वनस्पति और प्राणियों का उद्भव होना है। कूर्म पुराण में 'कश्यपजी' की पुत्री की सन्तानों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'हे द्विजगण ! सुरसा ने एक सहस्र प्रकार के सर्पों को जन्म दिया। उसी प्रकार अरिष्टा ने अनेक शिर वाली 'खेचर गन्धर्वों की एक हजार जातियाँ उत्पन्न कीं। ताम्रा ने छः कन्याओं को जन्म दिया जिनके नाम शुकी, श्येनी, भासी, सुग्रीवा, ग्रन्थिका और शुचि हैं। सुरभि ने गोओं को जन्म दिया और इससे वृक्ष, लता, बेलें घास आदि उत्पन्न हुए। यक्ष राक्षस, मुनि, अप्सरायें तथा रक्षोरण को उन्होंने क्रोध वशा से उत्पन्न किया। विनिता के दो पुत्र गरुड़ और अरुण हुए, जिनमें से गरुड़ विष्णु भगवान् का वाहन और अरुण सूर्य भगवान् का साथी बना। इस प्रकार कश्यप महर्षि की सन्तानों में स्थाणु और जङ्गम सब तरह के पदार्थ थे।

इस प्रकार की सृष्टि सहस्रयुग व्यापी कल्प के अन्त में पुनः पुनः होती रहती है।'

कश्यपजी के वंश का वर्णन करते हुए विष्णु पुराण में समस्त पशु पक्षी उनकी संतति के रूप में ही वर्णन किये गये हैं। उसमें कहा गयाहै कि 'कश्यप पत्नी 'ताम्रा, की पुत्रियों में से शुकी से तोता, उल्लू, कौये आदि हुये। श्येनी से श्येन (बाज) भासी से भास और गृद्ध्रिका से गृद्धों की उत्पत्ति हुई। शुचि से जल के पक्षी हुये और सुग्रीवी से घोड़े, ऊँट और गधे हुये।। इस प्रकार ताम्रा का वंश हुआ। क्रोधवशा नाभ की पत्नी से सब बिकराल दाढ वाले भयंकर, कच्चे माँस का आहार करने वाले जलचर, थलचर और नभचर पैदा हुये। क्रोधवशा से ही महाबली पिशाचों की उत्पत्ति हुई। सुरभि से गौ, भैंसें आदि उत्पन्न हुईं इससे वृक्ष, लता, वेला तथा सब तरह की घासें उत्पन्न हुई।"

इस प्रकार पुराणों में सूर्य चन्द्रमा आदि की उत्पत्ति भी माताओं के गर्भ से वर्णन करदी हैं। इन वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण कर्ताओं ने अनेक स्थानों पर प्राकृतिक स्थावर और जङ्गम पिण्डों और वृहद् पदार्थों का वर्णन भी शरीरधारी प्राणियों और मनुष्यों की तरह कर दिया है। 'दक्ष' वंश' का वर्णन करते हुये 'कूर्म-पुराण' में कहा गया है। 'महात्मा मेरु (पर्वत) के आयति और नियति नाम वाली दो कन्यायें थीं, जो धाता और विधाता के साथ विवाही गईं। उनसे 'प्राण' और 'मृकण्डु दो पुत्र हुये। मरीचि महर्षि ने भीं सम्भूति से 'पूर्णमास' नामक पुत्र को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त उनकी चार कन्याऐ—'तुष्टि' 'वृष्टि' कृष्टि' अपचिति थीं। 'पूर्णमास के' 'विरजा' और 'पर्वत' दो पुत्र हुये। 'वह्नि' ने स्वाहा' से तीन परमोदार पुत्रों को उत्पन्न किया जिनके नाम 'पावक' 'पवमान और'शुचि, थे। इनके पैंतालीस सन्तानें हुईं। इस प्रकार ये सब मिलाकर उनचास 'वह्नियां (अग्नि के विभिन्न रूप) कहे गये हैं। ये सब तपस्वी कहे गये हैं यज्ञों में भागीदार माने गये हैं। उसके दो विभाग—'अग्निष्वात्त' और 'बर्हिषत किये गये हैं। इनके द्वारा 'स्वधा ने मेना और 'धारिणी, नाम की दो पुत्रियों को

जन्म दिया। मेना ने हिमवान (पर्वत) द्वारा मैनाक तथा क्रौंच (पर्वतों) को तथा गङ्गा को जन्म दिया। उसने अपनी योगाग्नि के बल से देवी महेश्वरी को भी पुत्री के रूप में प्राप्त किया।

इस प्रकार जिस 'मेना' से पर्वतों तथा नदी की उत्पत्ति बतलाई गई है, उसका काव्यमय वर्णन जब हम गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाओं के 'पार्वती विवाह' वाले प्रकरण में पढ़ते हैं तो जान पड़ता है कि 'मेना' कोई सुन्दर रेशमी साड़ी और तरह-तरह के बढ़िया वस्त्रा-भूषण धारण किये राज महिषी ही हैं। पर ये सब कवियों की रम्य कल्पनायें ही जिनके प्रभाव से पर्वत, नदी, समुद्र, वृक्ष, सर्त, पशु आदि सब मनुष्यों की तरह बातें करते दृष्टि गोचर होते हैं। बालक और बाल बुद्धि के अन्य पाठक ऐसी विचित्र कथाओं को सुनकर चमत्कृत और प्रसन्न हो उठते हैं और विद्वान उन रूपक अलंकारों के भीतर निहित गूढ़ तत्वों को समझकर महाकवि की प्रशंसा करते हैं। पर अर्द्ध दग्ध और शुष्क आलोचकों-नुक्ताचीनी करने वालों को उनमें केवल 'मूर्खता' अथवा 'बहकाने' वाली बाते ही दिखलाई पड़ती हैं। हम यह नहीं कहते कि पुराणों के सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी वर्णन आधुनिक विज्ञान को कसौटी पर कसे जाने योग्य हैं, पर भारत के प्राचीन मनीषियों ने जाँच-पडताल के आज के समान कोई साधन न होने पर भी अपनी विराट् वृद्धि और तर्क के आधार पर स्थूल और सूक्ष्म विश्व का जितना ज्ञान प्राप्त कर लिया वह कम प्रशंसनीय नहीं हैं। उनमें से कितने ही तथ्यों का ज्ञान तो पश्चिमी वैज्ञानिक गत चालीस-पचास वर्षों में ही प्राप्त कर सके हैं।

चारों युगों का वर्णन विकास सिद्धान्त के अनुकूल है—

साधारण पौराणिक कथाओं के श्रोता समझा करते हैं कि सतयुग और त्रेता बड़ी उन्नति और सुख-समृद्धि के समय थे। उस समय के राज भवन सोने और जवाहरातों से जड़े हुये थे और बड़े-बड़े सुन्दर बाजार चौराहे खोलने के स्थान आदि बने हुए थे। पर पुराणों मे ही इस सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक लिखे गये वर्णनों को पढ़ कर मालूम होता है कि वे

सब बातें कथाओ को रोचक बनाने के लिये ही जोड़ दी गई हैं। वास्तव में प्राचीन काल में मनुष्य का जीवन बिलकुल प्राकृतिक और सीधा सादा था और जैसे-तैसे समय बींतता गया उन्होंने नई-नई वस्तुओं के निर्माण की विधि खोज कर 'सभ्यता' भी क्रमशः वृद्धि की है। इस दृष्टि से कूर्म' पुराण' का वर्णन भी बहुत स्पष्ट और सुलझा हुआ है। पाठकों नमूना, युग वंश कीर्तन' (२९ वाँ अध्याय) में मिल सकता है, जिसमें लेखक ने चारों युगों की अवस्था पर प्रकाश डाला है—

'व्यासजी ने कहा—अब में युगों का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में बतलाता हूँ। वे चारों युग कृतयुग (सतयुग), त्रेता, द्वापर, कलियुग हैं। कृतयुग में ध्यान ही परम तप था। त्रेता में ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट तप माना गया। द्वापर में यज्ञ की प्रधानता हूई और कलियुग का प्रधान धर्म'दान' रह गया है। इस प्रकार कृतयुग में ब्रह्मा प्रधान देव थे, त्रेता में सूर्य देव माने गये, द्वापर में महेश्वर देव हुये। कलियुग में अनेकों देव पूजे जाते हैं।"

"कृतयुग में सभी लोग समान भोगों का उपभोग करने वाले थे। उनमें न कोई ऊँचा था और न नीचा। उस समय सब लोगों की आयु (उम्र) रूप और सुख बिल्कुल एक सा रहता था। उनको किसी प्रकार का सुख-दुःख नहीं होता था। उनको कोई घर नहीं था,और वे पर्वत या समुद्र के किनारे आदि स्थानों में निवास किया करते थे। यह पूर्ण समानता की स्थिति त्रेता में बहुत कुछ वदल गई। उस समय वर्षा होने लगी और उसके द्वारा भूमि में बहुत से वृक्ष उत्पन्न हो गये। त्रेता-युग के मनुष्यों का सब काम उन्हीं वृक्षों से चलता था। वे उन्हीं को घर बना कर रहते थे। उन्हीं वृक्षों से उनको निवास, वस्त्र और भोजन सब कुछ प्राप्त होता था। उन वृक्षों से मधु या गोंद समान एक रस निकलता था उसी को खाकर वे प्राणी हृष्ट-पुष्ट रहते थे। पर जब वे उन वृक्षों पर अपना अधिकार जमाकर उनके लिये झगड़ा करने लगे तो वे वृक्ष नष्ट हो गये। तब वे उदर निर्वाह के लिये अन्य उपाय ढूंढ़ने लगे। उस समय वर्षा में परिवर्तन हुआ और उसका पानी इकट्ठा होकर बहने लगा

जिससे नदी नालों की उत्पत्ति हुई । उनके आस-पास चौदह प्रकार के जङ्गली खाद्य पदार्थ अपने आप होने लगे और उन्हीं को खाकर लोग जीवन निर्वाह करने लगे ।

पर जब लोग लोभवश उन पदार्थों के लिये भी नदी और पर्वतों के क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमाने लगे तो वे भी सब नष्ट हो गये । उसके पश्चात् राजा पृथु ने खेती की प्रथा का प्रचलन किया और लोग विवश होकर खेती द्वारा अन्न उत्पन्न करने लगे । पर जब उस अन्न की भी लूट-मार होने लगी तो मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिये क्षत्रियों (शासक वर्ग) का प्रादुर्भाव हुआ । उसी समय से वर्णों का विभाजन होने लगा और हिंसा रहित यज्ञों का प्रचलन हुआ ।

"द्वापर युग के मनुष्यों में राग-द्वेष, लोभ और युद्ध का भाव बहुत बढ़ गया । तब प्रकृति ने अवृष्टि और रोगों द्वारा प्रजा को मारना आरंभ कर दिया । वाणी, मन और शरीर सम्बन्धी दोषों के उत्पन्न हो जाने से मनुष्य तरह-तरह के विचारों में ग्रस्त हो गये जिससे दुःख और उससे छुटकारे की भावना जागृत हुई । इसके फल से वैराग्य हुआ और वैराग्य से दोषों का दर्शन होने लगा । द्वापर युग में इस प्रकार की जो प्रवृत्ति हुई थी वह रजोगुण और तमोगुण से ही युक्त थी ।"

कलियुग वर्णन

"कलियुग में परिस्थति बिल्कुल ही बदल जाती है । लोग परिश्रम, सच्चाई, उदारता के बजाय छल, कपट, माया से काम लेने लगते हैं । इसके फल से सज्जनों का निर्वाह होना कठिन हो जाता है । जब लोग अनीति पर चलने लगते हैं तब प्रकृति भी महामारी, अकाल, अनावृष्टि, आक्रमण आदि से उनको दण्ड देने लगती है । उस समय के मनुष्य भूखे, अधिक गुस्सा करने वाले, अल्प शक्तियुक्त, झूँठे, लोभी और दुष्ट हो जाते हैं उनके उद्देश्य बुरे होते हैं, वे दूषित अध्ययन करते हैं, दुराचारी और बेईमान होते हैं और ब्राह्मणों के अनुचित कर्मों द्वारा मनुष्य को चारों तरफ अमङ्गल ही दृष्टिगोचर होता है । उस समय उच्चवर्ण वाले

वेदों का अध्ययन और यज्ञ-कर्म त्याग देते हैं । अल्प बुद्धि वाले ही इन कार्यों को करने लग जाते है । मन्त्र, जप, शयन, आसन, भोजन के द्वारा ब्राह्मण शूद्रों से सम्बन्धित हो जाते हैं । राजा अथवा शासक भी अधिकांश में शूद्र जातीय होंगे जो ब्राह्मणों की प्रगति में बाधक होंगे और गर्भपात, हत्या आदि में उनको कुछ भी संकोच न होगा ।"

'कलियुग में उच्च वर्ण के व्यक्ति, स्नान, होम, जप, दान, देवार्चन आदि सभी कार्यों को त्याग देते हैं और देवताओं, ब्राह्मणों, भगवान्, धर्म सम्प्रदाय, धर्मशास्त्र, पुराण आदि की विशेष रूप से निन्दा करने लगते हैं । ब्राह्मणों की रुचि अपने धर्म कर्म में बिल्कुल नहीं रहेगी और वे शील रहित, पाखण्डी और बाहरी सौन्दर्य दिखाने वाले हो जायेंगे । सब लोग अन्नादि बेचने लगेंगे, ब्राह्मण धर्म को बेचेंगे और स्त्रियों रूप को बेचेंगी । सफेद दाँत वाले पवित्र साधु मान लिये जायेंगे, सर मुँड़ा लेने और गेरुवा वस्त्र धारण करने से संन्यासी कहे जाने लगेंगे और शूद्र धर्माचरण करने वाले होंगे । उस समय लोग अन्न की चोरी करने में भी संकोच नहीं करेंगे, एक चोर दूसरे चोर के यहाँ चोरी करेगा, एक अपहरण कर्ता से दूसरा मार कर छीनने वाला हो जायगा ।"

"कलियुग में दुःखों की अधिकता, आयु का अल्प होना, उत्साह का अभाव, रोगों से घिरे रहना, अधर्म में रुचि, तमोगुणी वृत्ति आदि बातें ही देखने में आयेंगी । कुछ लोग वेद (धर्मशास्त्र) के बेचने वाले होंगे तो कुछ लोग तीर्थों को बेचने वाले होंगे । आसन परबैठे शूद्रों को देखकर हीनता को प्राप्त उच्च वर्ण वाले उनका अभिवादन करेंगे और राजाओं के नौकर बनकर शूद्र ब्राह्मणों को दण्डित करेंगे । उस समय शूद्र उच्चाधिकारी होंगे । शूद्रोपजीवी ब्राह्मण पण्डित उन लोगों को वेद पढ़ायेंगे और वेदों की ऐसी व्यवस्था करेंगे जैसी उनमें कहीं नहीं पाई जाती । कलियुग में सभी लोग ब्राह्मण और और क्षत्री बन जायेंगे । वे लोग अपढ़ और निकम्भे रह कर कीड़े-मकोड़ों, चूहों, साँप और मनुष्यों को भी मारते फिरेंगे ।

अगर पाठक आजकल की सामाजिक और राजनीतिक दशा पर निगाह डालेंगे तो उनको 'कूर्मपुराण' का 'कलियुग- वर्णन' अधिकांश में

ठीक ही जान पड़ेगा। समाज के मार्ग दर्शक और पूजनीय समझे जाने वाले ब्राह्मणों में जो दोष और स्वार्थ साधन की नीच मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई, उससे अन्यान्य जातियों में भी तरह-तरह के दोष उत्पन्न होते जाते हैं, इससे कोई समझदार व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता। इस समय पैसा या धन ही मनुष्य का एक मात्र लक्ष्य रह गया है और उसके लिये भला-बुरा कैसा भी करने में लोग संकोच नहीं करते, यह भी प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ रहा है। जातियाँ केवल नाम की रह गई हैं और सब अपने उचित कर्तव्यों को त्याग कर स्वार्थ साधन को ही मुख्य मानती हैं इसमें भी सन्देह नहीं। असल में इन दोषों का बीजारोपण समाज में बहुत पहले हो गया था और समाज का नेतृत्व करने वालों की मनोवृत्ति में ये दोष उसी समय दिखाई पड़ने लग गये थे उनको देखकर ही अनुभवी विद्वानों ने आगामी परिवर्तनों का अनुभव कर लिया और उसके आधार पर जो वर्णन किया वही आज पूर्णतः नही तो अंशतः प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा है।

साम्प्रदायिक एकता—

पुराणों के अध्ययन से यह पता चलता है कि हमारे देश में किसी समय शिव और विष्णु के अनुयायिओं में प्रधानता के लिये बहुत बड़ा संघर्ष हुआ है। यह भी सम्भव है कि यह 'धर्म' के आवरण में ढका हुआ घनवानों और गरीबों का संघर्ष हो, जैसा कि आजकल साम्यवादी आन्दोलन ने उत्पन्न कर दिया है। क्योंकि विष्णु' के पक्ष वालों में प्रायः सब तरह के साधन सम्पन्न, वस्त्राभूषणों से सजे, विमानों और रथों में चलने वाले देवताओं का वर्णन मिलता है। दूसरी तरफ शिव के अनुयाइयों में अधिकांश में भूखे, नंगे, कुरूप और कुवेष वाले गुणों, भूत प्रेतों, पिशाचों आदि का नाम लिया जाता है। चाहे कुछ भी कारण हो 'दक्ष' की कथा तथा अन्य भी बहुत सी कथाओं से यह अनुमान होता है कि किसी समय इन दोनों दल वालों में प्रायः झगड़ा होता रहता था और उनमें घोर शत्रुता का भाव उत्पन्न हो गया था। यह वैमनस्य अब

से डेढ़ हजार वर्ष पहले भी पर्याप्त भयंकर रूप में देश भर में फैला था और इसके कारण दोनों सम्प्रदायों में अनेक बार खूनी संघर्ष हुये थे। इस संघर्ष का विशेष प्रभाव दक्षिण भारत में ही रहा, इसलिये हम हिन्दी भाषी प्रान्तों के निवासी इसके सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं रखते।

शैव और वैष्णव मतभेद के आधार पर पुराणों के भी दो भेद हो गये हैं। शिव, वायु, लिङ्ग, स्कन्द वामन, कूर्म, भविष्य, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, मत्स्य–ये शैव पुराण कहे जाते हैं और विष्णु, भागवत, नारद, गरुड़ ये चार वैष्णव कहे जाते हैं। ब्रह्म वैवर्त कृष्ण और राधा का चरित्र चित्रण करने में सर्वोपरि है। पद्म पुराण को ब्रह्मा का बतलाया है, पर उसमें राम और कृष्ण की कथायें बहुत विस्तार मे है और शैवों के विरोध की सबसे कटु बातें भी उसी में मिलती हैं।

पर इन सभी पुराणों की लेखन शैली में काफी अन्तर है। जबकि शिवपुराण में विष्णु और ब्रह्मा को काफी नीचा दिखाया गया है और लिङ्ग तथा स्कन्द पुराण में भी शिव को ही विष्णु और ब्रह्मा का कर्त्ता-धर्ता माना गया है, वहाँ कूर्म पुराण में विष्णु की भी सर्वत्र प्रशंसा की गई है और उनको हर जगह शिव के तुल्य ही दर्जा दिया गया है। उसमें निराकार शिव ने अनेक स्थनों पर कहा है कि विष्णु ब्रह्मा और रुद्र-तीनों मेरे ही साकार स्वरूप हैं। 'पद्मोद्भव' प्रादुर्भाव (अध्याय ९) में कहा गया है कि जब ब्रह्माजी का विष्णु भगवान् के नाभिकमल से प्रादुर्भाव हुआ तब वे माया के वशीभूत होकर विष्णु से झगड़ा करने लगे कि मैं ही पुराण-पुरुष हूँ और समस्त सृष्टि का एकमात्र रचयिता हूँ, अतएव मुझको बड़ा मानना चाहिये। विष्णु भगवान् ने प्रेम पूर्वक उनको बहुत समझाया पर वे अपनी बात पर जोर देते ही रहे। तब परमात्मा शिव उनको दूर से दिखाई पड़े जिनके तीन नेत्र थे और हाथ में त्रिशूल था। चन्द्रमा, सूर्य तथा समस्त नक्षत्र उन्हीं में संलग्न थे। उनको देखकर ब्रह्माजी और भी मायाग्रस्त हो गये और विष्णु से कहने लगे—ये कौन हैं। तब विष्णु जी ने कहा कि यही आदि अन्त से रहित समस्त लोकों के

महान् ईश्वर हैं। यही विश्व का सृजन, पालन तथा संहार करने वाले हैं। आपको भी इन्हीं ने बनाया है और वेद प्रदान किये हैं। तब परम शिव ने निकट आकर ब्रह्मा को आश्वासन दिया कि वे ही मात्र सृष्टि की रचना करने वाले और अव्यय हैं। आपकी जो कुछ भी इच्छा होगी उसे मैं पूर्ण करूँगा। ये विष्णु भगवान् मेरे ही दूसरे (अपर) शरीर हैं। ये सब प्रकार से आपका योग क्षेम वहन करेंगे।'' फिर वे विष्णु से कहने लगे—'हे जगन्मय ! मैं आपसे परम सन्तुष्ट हूँ, आपकी जो इच्छा हो वही वर मुझसे प्राप्त कर सकते हैं। हम दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई 'परमार्थ' नहीं है। आप समस्त कार्य करने वाले हैं और मैं उनका अधिदैवता हूँ। यह सभी जो कुछ है वह तन्मय और मन्मय ही है—इसमें कुछ भी संशय नहीं। यदि सोम है तो मैं सूर्य हूँ। आप रात्रि हैं तो मैं दिन हूँ। आप अव्यक्त प्रकृति हैं तो मैं पुरुष हूँ। आप ज्ञान हैं और मैं उस ज्ञान का जानने वाला हूँ। आप माया हैं और मैं उसका ईश्वर हूँ जो कुछ मैं निष्कल देव हूँ वही नारायण प्रभु आप हैं। जो ब्रह्मवादी योगी-जन हैं वे हम दोनों को एकीभाव से ही देखा करते हैं। हे विश्वात्मन् ! जो योगी आपका आश्रय ग्रहण नहीं करेगा वह मुझे प्राप्त नहीं कर सकेगा।

इस प्रकार कई स्थानों पर शिवजी ने विष्णु के सम्बन्ध में यही कहा है कि हम दोनों में कोई भेद नहीं हैं और जो कोई विष्णु से द्रोह भाव रखेगा वह मुझको भी नहीं पा सकता। यह कथन सर्वथा इसी प्रकार का है जैसा तुलसीदासजी ने अपनी रामायण में रामचन्द्रजी के मुख से कहलाया है—

शिव द्रोही मम दास कहाये।
सो नर मोहि सपनेहु नहिं भाये॥

यही सच्चे धर्मवेत्ताओं और भगवत् भक्तों का लक्षण है। जो व्यक्ति भगवान् के किसी रूप की अवज्ञा करता है, वह चाहे कैसा भी ज्ञानी-ध्यानी क्यों न हो, पर कभी आत्म कल्याण का अधिकारी नहीं बन सकता। बुद्धिमान् और सच्चा व्यक्ति हठधर्मी और पक्षपात की मनोवृत्ति

से दूर रहकर समन्वय और सहयोग के भाव का ही परिचय देते हैं। इस प्रकार वे संसार में से अनुचित कलह और द्वेष भाव का निराकरण करके सुख, शान्ति और प्रगति की स्थितियों को लाने में सहायक बनते हैं।

ईश्वर गीता और भगवत्‌गीता—

'कूर्मपुराण' के उत्तरार्द्ध में विशेष रूप से 'ईश्वर गीता' और व्यास गीता' का समावेश किया गया है। यह लगभग पाँच सौ श्लोकों की है और इसका मुख्य उद्देश्य शिव को संसारकी सबसे महान और संचालक शक्ति सिद्ध करना है। इसकी रचना संभवतः भगवत्‌गीता के आदर्श को सम्मुख रखकर की गई है, क्योंकि इनकी वर्णन शैली में पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है और कितने ही श्लोक भी मिलते-जुलते हैं। जिस प्रकार 'भगवत् गीता' का उपदेश कुरुक्षेत्र में अर्जुन को होने का प्रसङ्ग उपस्थित करके किया गया था, उसी प्रकार 'ईश्वर गीता' सनक-सनन्दन आदि ऋषियों के द्वारा ज्ञान के सत्यस्वरूप की जिज्ञासा करने पर स्वयं परम शिव द्वारा कथन की गई है। वैसे इसमें कितने ही श्रोता और वक्ता हैं। 'ईश्वर गीता' के प्रथम अध्याय में सब से पहले तो नैमिषारण्य में निवास करने वाले ऋषियों ने पुराण कथा के कहने वाले सूतजी से ब्रह्मज्ञान के रहस्य प्रकट करने की प्रार्थना की थी। इस पर उन्होंने व्यासजी का ध्यान किया और वे स्वयं वहाँ पर आविर्भूत होगये।

जब ऋषियो ने उनसे यह प्रार्थना की तो उन्होंने कहा कि 'एक समय बदरिकाश्रम में सनक, सनन्दन, भृगु, वसिष्ठ आदि सभी ऋषियों ने इसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कठिन तपश्चर्या की थी। उससे प्रसन्न होकर भगवान् नर-नारायण उनके सम्मुख आये। जब ऋषियों ने उनसे परमात्मा और आत्मा का सत्यज्ञान बतलाने की प्रार्थना की तो उन्होंने भगवान् शिव का ध्यान किया। इस पर भगवान् शिव वहीं प्रकट हो गये। तब भगवान् नर-नारायण ने प्रार्थना की थी कि ये सब ऋषि आत्मज्ञान का उपदेश सुनना चाहते हैं, पर अपनी आत्मा का रहस्य आपके अतिरिक्त यथार्थ रूप से और कोई नहीं जानता अतः आप ही

दया करके इन तपस्वियों की अभिलाषा पूर्ण कीजिये"। यह सुनकर भगवान शिव ने जो आत्मोपदेश बदरिकाश्रम के ऋषियों को दिया था वही व्यास जी ने नैमिषारण्य के मुनियों को सुना दिया। वही उपदेश 'ईश्वर गीता' कहलाया क्योंकि वह साक्षात् भगवान शिव के मुख से निकला था।

जिस प्रकार 'भगवत् गीता' में भगवान् कृष्ण द्वारा अर्जुन को 'विश्वरूप' दिखलाने का वर्णन है उसी प्रकार 'ईश्वर गीता' में भी शिवजी द्वारा नृत्य करके समस्त ऋषियों को विश्वरूप दिखलाने का उल्लेख है। गीता के अनुसार उस विश्वरूप को देखते ही अर्जुन ने कहा---

अनेक बाहूदर वक्त्रनेत्र पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।

अर्थात् "हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामी ! मैं आपको अनेक हाथ, पैर, मुख और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ। हे विश्वरूप अन्त, मध्य अथवा आदि कुछ भी दिखाई नहीं देता।"

'ईश्वर गीता' भी नृत्य करते हुये शिव के स्वरूप के वर्णन में कहा गया है—

सहस्रशिरसं देवं सहस्र चरणाकृतिम्।
सहस्रबाहुं जटिलं चन्द्रार्द्धकृत शेखरम्॥
ब्रह्माण्डं तेजसा स्वेन सर्वमावृत्यधिष्ठितम्।
दंष्ट्रा करालं दुर्द्धर्षं सूर्यकोटिसमप्रभम्॥

अर्थात् "सहस्र शिरों से युक्त, सहस्र चरणों से सम्पन्न, सहस्रों हाथ वाले, जटाधारी, अर्द्धचन्द्र से शोभित शिव को उन सब ने देखा। वे समस्त ब्रह्माण्ड को अपने तेज से परिपूर्ण किये हैं, उनके अतीव कराल दाढें हैं, वे अत्यन्त दुर्द्धर्ष हैं और करोड़ों सूर्य के समान प्रभा वाले हैं।"

आगे चलकर यह भी कह दिया है कि भगवान् नारायण भी उसी शिव के स्वरूप में सम्मिलित होकर दोनों का एक्य प्रकट कर रहे थे—

"शाश्वत ऐश्वर्य और विभव वाले, धर्म के आधार, दुरासद, महेन्द्र और उपेन्द्र द्वारा नमस्कार किये जाते हुये, ऋषियों द्वारा वन्दित, योगियों

के हृदय में स्थित, योगमाया से समावृत, क्षणमात्र में जगत् की रचना करने वाले, अनामय नारायण को भी 'उस ईश्वर (शिवजी) के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त होता हुआ ब्रह्मबादियों ने देखा।''

'ईश्वर गीता' के सातवें अध्याय में 'शिव विभूति योग' का वैसा ही वर्णन मिलता है—जैसा 'भगवत् गीता' दशम अध्ययाय में भगवान् कृष्ण का 'विभूति योग' कथन किया गया है। उनमें से कुछ उदाहरण 'गीत' से बिल्कुल मिलते भी हैं—

रुद्राणां शङ्करश्चाऽहं गरुड़ः पततामहम्।
एरावतो गजेन्द्राणाम् रामः शास्त्रभृतामहम्॥
मुनीनाम्यहं व्यासो गणनां च विनायकः।
वीराणां वीरभद्रोऽहं सिद्धानां कपिलोमुनिः॥

अर्थात् ''रुद्रों में शङ्कर मैं ही हूं, पक्षियों में गरुड़ हूं, हाथियों में ऐरावत और शस्त्र चलाने वालों में मैं राम हूं। मुनियों में व्यास, गणों में विनायक, वीरों में वीरभद्र और सिद्धों में कपिल मुनि मैं ही हूं।'' ये सभी उदाहरण 'भगवत गीता' के 'विभूति योग' में ज्यों की त्यों पाये जाते हैं, इनके अतिरिक्त और भी कितने ही मिलते हुये हैं।

इन दोनों 'गीताओं' में बहुत से श्लोक भी शब्द और अर्थ की दृष्टि से प्रायः एक से हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृत मश्नामि प्रयतात्मनः॥

(भगवत गीता ९—२६)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं महाराधन कारणात्।
यो मे ददाति नियते स मे भक्तः प्रियो मय॥

(ईश्वर गीता ४—१४)

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

(भ० गी० ९—२४)

अहं हि सर्व हविषां भोक्ता चैव फलप्रदः ।
सर्व देवतनुर्भूत्वा सर्वात्मा सर्व संल्पुत्रः ॥
(ई० गी० ४—८)

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यम सुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम् ॥
(भ० गी० ९—३३)

ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्या धार्मिका मामुपासते ।
तेषाँ ददामि तत्स्थानमानन्दं परमम् पदम् ॥
(ई० गी० ४—१०)

मन्मनाभव मभ्दक्तो मद्याजीमां नमस्कुरु ।
मामे वैष्यसि सत्यं ते प्रतिजानं प्रियोसि मे ॥
(भ० गी० १८—६५)

कुर्वतो मृत्यु सादार्थ कर्म संसार नाशनम् ।
मन्मना मन्नमस्कारो मद्याजी मत्परायणः ॥
(ई० गी० ११—८५)

'भगवत् गीता' तो बहुत समय से समस्त भारत में ही नहीं किन्तु योरोप अमरीका मे भी आदरणीय स्थान प्राप्त कर चुकी है। 'ईश्वर गीता' का भी हिन्दू धर्म ग्रन्थों में श्रद्धायुक्त स्थान माना जाता है उसमें शैव-सिद्धान्त को योग्यतापूर्वक प्रतिपादित किया गया है। इन दोनों में अनेक अंशों में सनानता होना लेखक की समन्वय बुद्धि का द्योतक है। इससे वे लोग कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो साम्प्रदायिक मतभेदों के कारण झगड़ा करते रहते हैं अथवा जो धार्मिक और सामाजिक कथाओं में थोड़ा बहुत अन्तर होने के कारण अन्य मनुष्यों को सर्वथा गैर, पराया समझते रहते हैं। खेद का विषय है कि ऐसे व्यक्ति हमारे देश में बहुत अधिक संखमा में हैं जो अपने संकीर्ण विचारों के कारण अपने को सब अलग समझकर इस भरे पूरे जगत मे एकाकीपन ही अनुभव किया करते हैं। उनको समझना चाहिये कि भगवान् एक ही है। बेद और वेदान्त को छोड़ भी दें तो पुराणों में भी हर जगह यही आया है कि ब्रह्मा,

विष्णु, महेश, जो जगत के कर्ता-धर्ता माने जाते हैं, वे भी एक ही परमात्मा की विभिन्न शक्तियों के अलग-अलग रूप अथवा नाम हैं। इसलिए समझदार मनुष्य उसी को कहा जायगा, जो प्रकट में अपने नियमित आचार-विचार का पालन करता हुआ भी मानव-मात्र की एकता—एकात्मता में विश्वास रखे और आवश्यकता पड़ने पर सबके साथ वैसा ही व्यवहार करे। यही धर्म का वास्तविक तत्व है जो इन काव्यलंकारों से युक्त रोचक पौराणिक कथाओं में भी निहित है।

वेदान्त सिद्धान्त प्रतिपादन—

आगे चलकर कूर्मपुराणकार ने इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति जिस प्रकार बतलाई है और जगत के समस्त विभिन्न जान पड़ने वाले पदार्थों तथा दृश्यों का कारण माया को बतलाया है, वह सब वेदान्त दर्शन और उपनिषदों के सिद्धाँतों से पूणतः मिलता हुआ है। इतना ही नहीं, उन्होंने उपनिषदों के "अणोरणीयान्महतो महीयान्" और "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं पुरुषं पुरस्तात्" आदि सुप्रसिद्ध श्लोकों को भी परम शिव का वर्णन करने में सम्मिलित कर लिया है। इसलिए शैव-पुराण होने पर भी इसके अध्यात्म सिद्धान्तमें कोई ऐसी बात नहीं है जो अन्य सम्प्रदायों से भिन्न अथवा विपरीत हो। अन्तर केवल यही समझा जा सकता है कि जहाँ किसी ने सब के मूल का निर्देशन ब्रह्म' शब्द से किया है, किसी ने 'विष्णु' शब्द से किया है, वहाँ 'कूर्म पुराण' में उसके स्थान पर 'महेश' या 'शिव' का शब्द प्रयोग किया गया है—

"ईश्वर ने कहा—हे द्विजोत्तमो! अब एक हम परम गोपनीय ज्ञान की चर्चा करेंगे जिससे यह जन्तु (जीव) इस घोर संसार सागर से पार हो जाया करता है। ब्रह्म को तमरूप, शान्त शाश्वत्, निर्मल, अव्यय, एकाकी और केवल परमेश्वर भगवान् कहा गया है। वही महान् ब्रह्म मेरी योनि है, अर्थात् मैं उसी में गर्भ धारण किया करता हूँ। जो मूलमाया अनन्त कही जाती है उसी से यह समस्त जगत उत्पन्न हुआ

है। प्रधान, पुरुष, आत्मा, महतत्व, पंचभूत, पंच तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ उसी से क्रमशः उत्पन्न होती हैं। आरम्भ में एक 'अण्ड' उत्पन्न हुआ था जिसकी प्रभा सुवर्ण के समान और करोड़ों सूर्य के तुल्य थी। उसी 'अण्ड'में से ब्रह्मा ने जन्म ग्रहण किया जो मेरी शक्तिसे परिचालित था। अन्य सब प्रकार के जीव भी मेरे ही उत्पन्न किये हैं, पर मेरी माया से मोहित होकर वे मुझ परम पिता को नहीं देख पाते। जिन अनेक योनियों में वे सब यहाँ मूर्तिमान होकर प्रकट होते हैं उनकी मूल योनि और पिता मुझको ही जान लेना चाहिए।"

"जो इस प्रकार मुझको ही इस समस्त जगत का बीज, पिता, प्रभु जानता है वही सब लोकों में 'वीर' (ज्ञानी)है और वह फिर कभी मोह (अज्ञान)में पतित नहीं होता। समस्त विद्याओं का ईश्वर, सब भूतों का परमेश्वर और ओंकार की मूर्ति वाला मैं ही भगवान् प्रजापति ब्रह्मा हूँ। जो समस्त पदार्थों में समान रूप से स्थित रहने वाले परमेश्वर को प्रथम जान लेता है वही वास्तव में अपने को जान पाता है। जो सब प्राणियों और पदार्थों को एक ही परमात्मा को समान रूप से व्याप्त देखता है, वह कभी आत्मा से आत्मा का हनन नहीं करता (कभी किसी को पीड़ा नहीं पहुँचा सकता) और इस प्रकार परागति (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है। सात सूक्ष्म तत्वों और षट् अंगों वाले महेश्वर का ज्ञान प्राप्त करके 'प्रधान'से विनियोग का ज्ञात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है। वे षट् अंग ये हैं—सर्वज्ञता, सदा तृप्ति रखना, अनादित्व स्वच्छन्दता नित्यता और कभी लोप न होने वाली अनन्त शक्ति। सात सूक्ष्म तत्वों में पाँचों तन्मात्रा, मन और आत्मा की गिनती की जाती है। इन सबका जो मूल आधार है वही प्रकृति और प्रधान है, जिससे विनियोग किया जाना चाहिये।"

इस प्रकार साँख्य-सिद्धान्त के अनुसार बिश्व का जो प्रत्यक्ष स्वरूप विदित होता है उसका वर्णन करके फिर वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार

इसको 'माया' बतलाया है जिसमें लिप्त या ग्रस्त होना शुद्ध-बुद्ध जीव के लिये हीनता का कारण होता है—

"हे मनीषी विप्रो ! ऊपर वर्णन से यह कदापि मत समझ लेना कि मैं स्थल और जड़ जगत् रूप हूँ। पर साथ ही यह भी निश्चय हैकि मेरे बिना यह विश्व हो ही नहीं सकता। वास्तव में इस सबका कारण 'माया' है जो जीव के साथ मेरे आश्रय से रहती है। यह माया अनादि और अनन्त है और एक शक्ति के रूप में व्यक्ति के साथ रहती है। उसी के द्वारा यह सतस्त विश्व-प्रपंच अव्यक्त से प्रकट होता रहता है, और वह अव्यक्त मुझ आनन्द, प्रकाश और अक्षर (सच्चिदानन्द) के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्मज्ञानी महापुरुष मुझे 'विश्वरूप' कहा करते हैं। मेरा एक रूप और अनेक रूप में वर्णन किये जाने काभी यही कारण है, इसमें भ्रम या द्विविधा की कोई बात नहीं है।"

यही सिद्धांत है जिसे प्रत्येक मूल शास्त्र और धर्मग्रन्थों में कुछशब्दों के हेरफेर के साथ कहा जाता है। इतना ही क्यों आज का विज्ञान भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है यद्यपि वह 'ईश्वर' या 'परमात्मा शब्द का प्रयोग नहीं करता। यह समस्त दृश्य जगत् किसी एक हीस्रोत से, जिसकी व्याख्या शब्दों द्वारा पूर्ण रूप से नहीं की जा सकती, प्रकट होता है और कुछ समय पश्चात् उसी में फिर लय हो जाता है यहीआधुनिक वैज्ञानिकों का भी अभिमत है। जिस प्रकार भारतीय शास्त्रों में उसे 'अव्यक्त' कहा है वे भी उसे 'अज्ञेय' कहते हैं। इस प्रकार पुराणों का सृष्टिविज्ञान, जिसे कथा का रूप देकर समझाने के लिए शौनक, सूतजी-व्यासजी, सनक-सनन्दन आदि व्यक्तियों के नामों का प्रयोग कर दिया गया है, पूर्णतः तर्क और विज्ञान के अनुकूल सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं।

स्वच्छता और स्वास्थ्य के नियमों का पालन

पुराण में स्वच्छता और स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से शौच, स्नान,

भोजन आदि के जो नियम लिखे हैं,उनमें से बहुत वर्तमान परिस्थितियों में अव्यवहार्य और कठिन हो गये हैं, तो यथासंभव उनमें से जितने का पालन किया जा सके उन्हीं पर आचरण किया जाय तो वह लाभकारी होगा इसमें सन्देह नहीं। 'सदाचार वर्णन' नामक अध्याय में कहा गया है—

"व्यासदेव ने कहा—भोजन करके कुछ पीकर, शयन करके, गली में चलकर, वस्त्र पहिन कर, रेत (वीर्य), मूत्र और मल का परित्याग करके, अयुक्त भाषण करके, थूककर, अध्ययन आरम्भ करते हुये, खाँसी और कफ आदि आने पर, भीड़ के स्थान और श्मशान में जाने पर आचमन द्वारा शुद्धि कर लेनी चाहिए, चाहे सायं-प्रातः सन्ध्या करते हुए आचमन किया जा चुका हो। इसी प्रकार चाण्डाल और म्लेच्छ के साथ संभाषण करने पर, उच्छिष्ट व्यक्ति का स्पर्श हो जाने पर, अश्रु-पात अथवा रक्तपात होने पर पुनः आचमन करना चाहिए। आचमन कभी जूता पहिनकर, जल में खड़े होकर अथवा सिर पर पगड़ी, टोपी आदि धारण किये हुए नहीं करना चाहिए। वर्षा की धारा के जल से आचमन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार किसी तरह खराब, दूषित जान पड़ने वाले जल से आचमन न करे।"

"छाया के स्थान कुआ, नदी, गौशला, मन्दिर, मार्ग, भस्म, अग्नि श्मशानमें कभी मल मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। गायों का चरागाह में, जुती हुई भूमि में, बड़े वृक्ष के नीचे, टूटे-फूटे देवस्थान में, चींटियों के बिल पर कभी मल-मूत्र का त्याग न करे। भूसा और चारे के ढेर, हड्डियों पर, सड़क पर, किसी तीर्थ या विमल स्थान पर कभी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। शौच के पश्चात् मिट्टी लगाकर गुदा को भली प्रकार साफ करना चाहिए। हाथ पैरों को धोने के लिए रास्ते या कीचड़ आदि की जगह से गन्दी मिट्टी न लेकर साफ मिट्टी से ही काम लेना चाहिई और जल भी किसी गन्दे स्थान का न होकर स्वच्छ जला-शय आदि का होना उचित है।"

यद्यपि आजकल परिस्थितियाँ बदल गई हैं और बड़े नगरों के रहने वाले घरों में बने शौचालयों में मल,मूत्र त्याग करते हैं और नल से जल ग्रहण करते हैं, तो भी नगर से बाहर छोटे स्थानों में शौच आदि की आवश्यकता होने पर उपर्युक्त नियमों का ध्यान रखना आवश्यक है। आजकल भी तीर्थ स्थानों से मेल स्नान आदि के अवसर पर अधिक भीड़ इकट्ठी होने पर लोग आस-पास के समस्त स्थानों को मल-मूत्र से जिस प्रकार गन्दा कर देते हैं, वह स्वच्छता और स्वास्थ्य के नियमोंके सर्वथा विपरीत होता है। अनेक तीर्थ स्थानों में तो लोग इतनी अधिक गन्दगी फैला देते हैं कि वहाँ उसके कारण हैजा आदि संक्रामक व्याधियाँ फल जाती हैं और कितने ही लोगों की जीवनलीला समाप्त हो जाती है। अगर लोग पुराणकार के उपयुक्त उपदेशों का ध्यान रखकर देवस्थानों और तीर्थों की स्वच्छता का ध्यान रखें और मल-मूत्र का त्याग वहाँ से दूर जाकर करें और उस पर मिट्टी आदि डाल कर गन्दगी को रोकने का ध्यान रखें तो मेलों का बहुत कुछ सुधार हो सकता और तीर्थ स्थानोंकी स्वच्छता कायम रह सकती है।

सद्व्यवहार और सत्य पालन–

ऊपर जिन नियमों का वर्णन किया गया है वे तो 'बाह्य शौच' ही कहे जा सकते हैं। अगर भूल से या आपत्तिकाल होने से उनमे त्रुटि रह जाय तो पुनः उसका सुधार किया जा सकता हैं। पर अधिक महत्व तो हम 'अन्तः-शौच' का समझते हैं, जिससे मनुष्य की मनोवृत्तियों और आत्मा का परिष्कार और उत्थान होता है। उसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने व्यवहार,लेन-देन और मनो-भावों में शुद्धता और उच्चताका समावेश करे। अन्यथा स्नान, ध्यान और बाह्य-शौच शुद्धता का ध्यान रखने पर भी यदि कोई व्यक्ति दूसरों के साथ दुर्व्यवहार करता है, लेन-देन में बेईमानी करता है अथवा दूसरों के स्वत्व को अपहरण करने को प्रयत्न करता रहता है, तो वह कभी पुण्यवान् नहीं माना जा सकता।

इस तथ्य को ध्यान में रखकर 'कूर्मपुराण' में द्विजों (श्रेष्ठ व्यक्तियों) के कर्तव्य कर्मों का विवेचन करते हुए बहुत ठीक कहा है—

"कभी किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये और न कभी असत्य भाषण करना चाहिए। किसी के अहित की बात का अप्रिय वचन बोलना भी उचित नहीं। चाहे घास, शाक, मिट्टी या जल जैसी नगण्य वस्तु ही क्यों न हो, जो वस्तु पराई है उसका बिना पूछे अपहरण करने वाला अवश्य ही पाप का भागी और नरकगामी होता है। राजा का दान ग्रहण करना उचित नहीं और शूद्र (नीच कर्मवाले) तथा पतित व्यक्ति का दान भी कभी न लें। बुद्धिमान् व्यक्तिको सदैव याचना करके (माँग कर) निर्वाह नहीं करना चाहिए और न एक ही स्थिति से माँगना चाहिए। श्रेष्ठ ब्राह्मण को कभी देवता का धन नहीं लेना चाहिए। फूल, शाक, लकड़ी, कन्दमूल, धास, फल आदिको बिना स्वामी की आज्ञा के लेना चोरी कहा जाता है। देव पूजा के लिए जा सकते हैं पर वे भी बिना पूछे न लिये जायें और सदा एक ही स्थान से न लिये जायें।"

"भूसा,घास, काष्ठ, फल,पुष्प, जो कुछभी लेना हो वह सबके सामने पूछकर ही लेना चाहिए। वे भी धर्म कार्य के लिये जितने आवश्यक हों, उतने ही लिये जायें। अगर अत्यन्त भुखा और पीड़ित हो तो रास्ते के खेत अ दि से, तिल, मूंग, जो आदि लिया जा सकता है पर वह एक मुट्ठी से ज्यादा कभी न हो। पर जो धर्म के ज्ञाता हैं उनको उस दशा में भी बिना पूछे न लेना चाहिए। धर्म के बहाने किसी की वस्तु का अपहरण करने पर कभी पुण्य नहीं हो सकता वरन् समझदार लोग ऐसे व्यक्ति को मरने पर भी निन्दनीय ही मानेंगे। जो 'व्रत' या 'पुण्यकार्य' इस प्रकार विपरीत ढङ्ग से किया जाता है। उसका फल राक्षसों को चला जाता है जो लोग धर्म कार्यों में ढोंग और दिखावा करके दूसरों को ठगते हैं वे निश्चय ही पाप के भागी होकर वैसा ही फल पाते हैं।'

"धर्म ज्ञाता व्यक्ति को कभी पाप करने वालों से संपर्क नही रखना चाहिए। क्योंकि पापी के साथ पूजा पाठ का, विवाह आदि का, सङ्ग रहने का, बात-चीत का सम्बन्ध रखने वाला भी कुछ अंश में पापी हो जाता है। राज्य की नौकरी से भी बचकर रहना चाहिए क्योंकि वे लोग प्रायः धर्म से हीन होते हैं। जो व्यक्ति धर्माचरण नही करते उनका दान ग्रहण नहीं करना चाहिए। जिस गाँव में धर्म-हीन लोग ही अधिक रहते हों उसमें निवास भी नहीं करना चाहिए। पर सब किसी से विरोध भाव रखना भी ठीक नहीं। साराँश यही है कि दूसरों के साथ कभी उस तरह का व्यवहार न करे जो हमको स्वयं अपने लिये बुरा लगता हो। देव, गुरु और वेदों की निन्दा कभी न करे और यदि कहीं ऐसी चर्चा हो रही हो तो उसे सुने भी नहीं, कानों पर हाथ रखकर वहाँ से दूर हट जाय। मनुष्य को कभी क्रोध के वशवर्ती न होना चाहिए और द्वेष तथा राग से सदैव बचना चाहिए। लोभ, दम्भ, परायी निन्दा, घमण्ड आदि को त्याग दे, कभी किसी को पीड़ा न दे।

वास्तव में सबसे बड़ा पाप दूसरों को पीड़ा देना, उनका अहित करना ही है और इसी की प्रबलता आजकल के मनुष्यों में सबसे अधिक देखने में आती है। जैसा सभी धर्मशास्त्रों में स्पष्ट कह दिया गया है, दूसरों को दुःख देने वाले और उनके स्वत्व का अपहरण करने वाले लोगों की गिनती दुष्ट और आततायियों में ही की जाती है और समस्त बाह्य धर्माचरण, छूतछात और खान-पान की शुद्धता व्यर्थ है— कोरा ढोंग है। मनुष्य का सबसे पहला कर्तव्य है अपने जीवन-निर्वाह के लिए ईमानदारी से श्रम करना और आराम की कमाई से बिलकुल बचकर रहना। उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट कहा गया है कि श्रेष्ठ ब्राह्मणों को राजा और पाप कर्म में रत व्यक्तियों का दान कभी नहीं लेना चाहिए। इसका आशय यही है कि राजा के खजाने में हर तरह का धन जमाहोता है, और पापी तथा दुर्बल व्यक्ति भी विशेष रूप से गरीबों को लूट-मार कर ही रुपया इकट्ठा करते हैं। इस प्रकार के धन के साथ अत्याचार

पीड़ित निर्दोष लोगों की 'आहें' भी सम्मिलित होती हैं और इस कारण वह जहाँ जाता है, जिनके काम आता है, वहीं अपना कुप्रभाव प्रकट करता है। इसलिए अन्याय, अत्याचार, शोषण, अपहरण द्वारा प्राप्त धन ही इस संसार में सबसे बड़ा पाप और अभिशाप है। उससे व्यक्ति और समाज का पतन निश्चित रूप से होता है।

धर्म का जो दूसरा मुख्य लक्षण बतलाया गया है वह है अपने स्वभावगत दोषों—क्रोध, लोभ, मोह, मद का त्याग करना। इनके कारण मनुष्य की कभी सच्ची उन्नति नहीं हो सकती। यदि कोई विशेष अवसर या साधन मिल जाने से धन और मान की प्राप्ति हो गई तो भी वह स्थायी नहीं होते। उपर्युक्त दोषों से मनुष्य अन्य लोगों की दृष्टि में दूषित और त्याज्य प्रतीत होने लगता है और इसका परिणाम जल्दी या देर से व्यक्ति का पतन और बहिष्कार ही होता है पर अत्यन्त खेद का विषय है कि वर्तमान समय में सर्वत्र ऐसी ही उल्टी गङ्गा बह रही है। इस समय लोगों की दृष्टि में धन का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि उसके लिये वे किसी बुरे-भले काम के करने में संकोच नहीं करते और जब धन मिल जाता है तो समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लेना कठिन नहीं होता। यदि सार्वजनिक रूप से सम्मान न भी मिल सके तो भी अपनी निजी जाति और पेशे में तो नाम हो ही जाता है। यही कारण है कि आजकल प्राचीन धार्मिकों नियमों में से अनेक लोग बाह्य शौच और पूजा अर्चा की विधियों का तो पालन कर भी लेते हैं, पर सचाई, ईमानदारी, न्याय निष्ठा, पीड़ित व्यक्तियों का उपकार आदि पर उसका ध्यान बहुत ही कम जाता है। इस स्थिति को देखकर बहुसंख्यक लोगोंका ध्यान धर्म के समग्र नियमों और उपदेशों से हट जाता है और वे इसको केवल एक ढोंग, दूसरों को ठगने और बहकाने माध्यम ही मान लेते है। और यह बात अधिकाँश में ठीक भी है क्योंकि जो 'धर्म' मनुष्य में 'सामाजिक न्याय' की भावना पैदा नहीं करता वह कभी प्रगति और कल्याण का साधन नहीं बन सकता।

छः प्रकार के स्नान—

धार्मिक आचार-विचार का विवेचन करते हुए 'कूर्मपुराण' में साधारण जल स्नान के अतिरिक्त तो अन्य छः प्रकार के स्नान बतलाये गये हैं, उनमें कई प्रकार की विषमताएँ हैं। उनसे प्रतीत होता है कि उसके रचयिता केवल बाह्य क्रिया कलापों को महत्व न देकर धर्म-कर्म के मूल तथ्य को समझने वाले थे। छः स्नानों का वर्णन इस प्रकार है—

"स्नान के बिना मनुष्यों का कोई पावन कर्म उचित नहीं बतलाया जाता है। विशेष कर हवन और जप के अवसर पर स्नान परमावश्यक है। यदि सर्वाङ्ग स्नान करने में असमर्थता हो तो सिर के ऊपर जल न डाल कर भी स्नान का विधान किया गया है। यदि उसके करने को भी शक्ति न हो तो समस्त शरीर को गीले वस्त्र से भली प्रकार पोंछ देने से भी स्नान का उद्देश्य पूरा हो जाता है। इस प्रकार धर्म कार्यों के अवसर पर स्नान आवश्यक माना गया है। और जल से सामान्य स्नान करके में कठिनाई होने पर मनीषियों ने छः प्रकार के अन्य स्नानों का भी उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं—(१) ब्राह्म (२) आग्नेय (३) वायव्य (४) दिव्य (५) वारुण (६) यौगिक। इनमें 'ब्रह्म-स्नान' वह होता है जिसमें कुशा को जल में भिगोकर मन्त्र पढ़ते हुए उसके छींटे शरीर पर डाले जाते हैं। 'आग्नेय' स्नान में सिर से पैर तक सम्पूर्ण शरीर भस्म से भली प्रकार लिप्त कर दिया जाता है। 'वायव्य' स्नान उसका नाम है जिसमें गायों के खुरों से उड़ने वाली धूल से शरीर अच्छी तरह धूसरित हो जाता है। 'दिव्य-स्नान' उसको कहते हैं जब सूर्य की धूप के होते हुए वर्षा की बूँदें पड़ने लगती हैं, उनको शरीर पर पड़ने दिया जाता है। 'वारुण-स्नान' अपनी आत्मा में ज्ञान पूर्वक अवगाहन करने को कहा जाता है। 'यौगिक-स्नान' वे योगीजन करते हैं जो अपने ध्यान में विश्व-चिन्तन किया करते हैं। शास्त्रों में आत्मा को तीर्थ कहा गया है; जिसका सेवक ब्रह्मवादी महापुरुष करते हैं। यह स्नान मन की शुद्धि करने

वाला है अतएव आत्म-कल्याण के लिए नित्य ही इस स्नान को करना चाहिए।"

वास्तव में स्नान का उद्देश्य शरीर की शुद्धि के साथ मानसिक भावों को शुद्ध बनाना होता है। अन्यथा बहुत से खिलाड़ी बालक घण्टों तक पानी उछालते-कूदते रहते हैं, पर न उनके शरीर की पूरी सफाई होती है न उनके अन्तरंग पर इसका कोई प्रभाव पड़ता है। पर जल का अभाव होने पर या किसी विशेष शारीरिक अस्वस्थता की दशा में जब श्रद्धा और भावना पूर्वक भस्म या रज का स्नान कर लियाजाता है तो उससे भी आत्मा को परम शान्ति मिल जाती है और धर्म-कार्यमें सफलता प्राप्त होती है। इसलिए हमको धार्मिक विधि-विधानों तथा कर्म काण्ड आदिमें सदैव मूल लक्ष्य पर दृष्टि रखनी चाहिए और बाह्य नियमों से भी बढ़ कर शुद्ध और दृढ़ मानसिक भावनाओं को उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।

गायत्री-महिमा–

'कूर्म पुराण'में गायत्रीकी महिमा का भी अच्छा विवेचन पायाजाता है और उसकी साधना करने पर पर्याप्त जोर दिया गया है। निःसन्देह गायत्री-जप द्विजत्व का एक प्रधान चिह्न है और उससे आत्मशक्ति का वास्तविक रूप में विकास होता है। इस पर विश्वास रखते हुए पुराण-कार घोषणा करते हैं—

गायत्री वेद जननी गायत्री लोकपावनी।
न गायत्र्याः परं जप्तमेतद्विज्ञाय मुच्यते ॥

"वेद जननी गायत्री इस संसार में सर्वाधिक पवित्र करने वाली है। विद्वानों का कथन है कि गायत्री से बढ़कर अन्य कोई जप नहीं है।"

'किसी जलाशय के तट पर नित्य क्रिया करने के पश्चात् वन में या एकान्त स्थान में बैठकर गायत्री का ध्यान करें। उसके एक सहस्त्र मन्त्र का नित्य जप कर लेना उत्तम कहा गया है। सौ मन्त्र का जप मध्यम है और परिस्थिति वश वह भी न हो सके तो दश बार तो जप कर ही लेना चाहिए। गायत्री का इस प्रकार नित्य जप करना ही 'जप यज्ञ' कहा गया है। गायत्री मन्त्र तथा चारों वेदों को जब प्रभु ने तराजु के एक-एक पलड़े में रख कर तोला तो दोनों समान थे। आदि में ओंकार का उच्चारण करके तीन व्याहृतियों को बोले और तब सावित्री का जप करे। इसको एकाग्र चित्त से श्रद्धापूर्वक करना आवश्यक है। पहिले कल्प में भूः-भुवः—स्वः–ये तीनों व्याहृतियाँ उत्पन्न हुई थीं जो सनातन हैं। ये तीनों महाव्याहृतियाँ परम शुभ और कल्याणकारी कही गई हैं। इन तीनों से कई प्रकार का आशय निकलता है, जैसे प्रधान–पुरुष–काल, अथवा ब्रह्मा—विष्णु—महेश, अथवा सत्व—रज—तम। इन सब के ऊपर ॐकार है और फिर ब्रह्मा सावित्री हैं, जो अविनाशी है। यह मंत्र वास्तव में एक महान 'योग' है जिसमें समस्त ज्ञान का सार भर दिया गया। जो मनुष्य इसके प्रतिदिन नियम–पूर्वक जप करता है, जो ब्रह्मचारी इसका अर्थ समझ कर साधना करता है, वे अवश्य ही परमगति के अधिकारी होते हैं।"

गायत्री छन्द वेदों में मुख्य रूप से व्यवहृत हुआ है और उन सबमें –गायत्री–मन्त्र को सर्वोत्तम देखकर चुन लिया गया है। इसमें जो बुद्धि को शुद्ध करने और ज्ञान प्रदान करने की प्रार्थना की गई है,वही आत्म-कल्याण का सबसे मुख्य साधन है। यदि हमारी कलुषित भावनायें दूर होकर बुद्धि निर्मल हो जाय और हम उसके निर्देशानुसार धर्माचरण करने लगें तो इससे बढ़कर सौभाग्य मानव प्राणी का अन्य नहीं हो सकता। पर जैसा पुराणकार ने कहा है उसका जप उत्तम तभी होता है तब उसके अर्थ को भी ध्यान में रखा जाय और व्यवहार में भी उसे प्रयोग

में लाया जाय। बिना सोचे समझे केवल किसी मन्त्र के शब्दों को रटते रहना फलदायक नहीं हो सकता।

भगवान को निर्गुण और सगुण उपासना--

इस पुराण के अन्तिम अध्याय में भगवान की सगुण और निर्गुण उपासना का जो विवेचन किया गया है, वह काफी बुद्धि और तर्क संगत है। जो लोग पुराणों में देवताओं और तीर्थों की अलौकिक और विचित्र कथाएँ पढ़ कर भ्रमित हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि पुराणों का स्वरूप और आदर्श यही है, उनके भ्रम का निवारण इस आध्यात्मिक निरूपण से हो सकता है। उनमें स्पष्ट कहा है कि—

गीयते सर्वमायात्मा शूलपाणिः महेश्वरः।
एकमेके वदन्त्वग्निं नारायणमथा परे॥
इन्द्रमेके परे प्राणं ब्राह्मणमपरे जगुः।
ब्रह्मविष्णवग्निवरुणः सर्वे देवास्तथर्षयः॥
एकस्यंवाथरुद्रस्य भेदास्तेपरिकीर्त्तिताः।

अर्थात् "समस्त देवशक्तियाँ वास्तव में एक ही हैं। अपनी भावना और बुद्धि के अनुसार उसी एक शक्ति को कोई 'अग्नि' कहता है, कोई 'नारायण' के नाम से पुकारता है। अन्य लोग इसे 'इन्द्र' प्राण' 'ब्रह्मा' आदि नामों से कहा करते हैं। पर यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि, वरुण आदि समस्त देवता और समस्त ऋषि एक ही भगवान 'रुद्र' के भेद हैं।"

इन दो-तीन श्लोकों में ही पुराणकार ने विश्व में एकही चैतन्य सत्ता न होने का ज्ञान और विज्ञान भली भांति प्रकट कर दिया है। आगे चल कर उन्होंने इस सिद्धान्त को और भी विस्तृत व्याख्या के साथ समझायाहै

कि भगवान् की निर्गुण और सगुण उपासनायें तथा ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के विविध मार्ग तरह-तरह के स्वभाव और योग्यता वाले मनुष्यों के अन्तर को समझकर तदानुकूल निर्णीत किये गये हैं। संसार के सब लोग ईश्वर के 'निष्फल' निरंजन' और अप्रमेय रूप को नहीं समझ पाते और उसका ध्यान और उपासना नहीं कर सकते, उनके लिए मनीषियों ने 'चतुर्भुज' 'चतुर्मुख' 'त्रिनेत्र' आदि रूपों का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में पुराणकार के निम्न स्पष्टीकरण बहुत महत्वपूर्ण हैं–

"जो सगुण प्रभु की पूजा करके ही मुक्ति मार्ग का अवलम्बन करना चाहते हैं उनका उसी रूप में भगवान् की उपासना करनी चाहिये। अर्थात् भगवान् पिनाक धनुष को धारण किये हैं, तीन नेत्र वाले हैं, मस्तक पर जटाजूट है, व्याघ्रचर्म को पहिने हुए हैं, सुवर्ण के तुल्य उनकी आभा है, सहस्रों सूर्य के समान उनका तेजस्वीं रूप है। इस प्रकार के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। यही वैदिक सिद्धान्नों का मन्तव्य है।" (उत्तरार्ध अ० ४६ श्लोकों० ३९-४०-४१)

हम नही समझते कि इसे किसी प्रकार का अन्य विश्वास अथवा मूढ़ श्रद्धा कहा जा सकता है। लोगों की योग्यता, प्रकृति, देश, काल का विचार किये बिना सबको एक ही मार्ग का उपदेश देते चलना कोई बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता का प्रमाण पहीं है। संसार मे इस 'पढ़ने-लिखने' के युग में भी, जबकि छपी पुस्तकें और अखबार आदि जंगलों और पहाड़ों तक में पहुँच गये हैं, आधी से अधिक जनसंख्या ऐसी है, जो परमात्मा के 'एक और अद्वितीय' निराकार स्वरूप को न तो समझ पाती है और न उसकी उपासना कर सकती है। हिन्दू जनता, तो 'विष्णु' और 'शिव' से लेकर 'हनुमानजी' और गणेश' तक सैकड़ों देवताओं के पूजन में, संलग्न है ही, पर ईसाई और मुसलमान भी, जो 'एक ईश्वर' की उपासना करते हैं निराकार के बजाय साकार रूप को ही अधिक समझते हैं। 'धर्म' के नाम पर जो अनाचार और दुराचार होते हैं, उनका समर्थन तो कोई 'धार्मिक'

नहीं कर सकता । वे तो निम्न कोटिके स्वार्थी और अपराधी लोगों की करतूतें हैं, जो हिन्दू समाज में ही नहीं सभी मजहबों और समाजों में मिल सकती हैं। उनका विरोध और निराकरण तो समाज के प्रबुद्ध-वर्ग को ही नहीं राज्य और शासन कर्ताओं को भी करना चाहिए । पर ईश्वरोपासना की विविध पद्धतियों का पूर्ण रूप से मिटाया जा सकना शीघ्र संभव नहीं। इस दृष्टिसे 'कूर्मपुराण' का विवेचन यथार्थ ही माना जायगा ।

× + ×

जैसा हम आरम्भ में कह चुके हैं, छोटे होने पर भी कूर्मपुराण' धार्मिक विषयों का विवेचन करने की दृष्टिसे उत्कृष्ट श्रेणी का है। इसकी रचना में समन्वय बुद्धि से अधिक काम लिया गया है और इसमें अतिशयोक्ति का प्रयोग भी अन्य कितने ही पुराणों की अपेक्षा कम किया गया है । भगवान् शिव को 'सर्वोच्च' बतलाते हुए भी इसमें सर्वत्र विष्णु और ब्रह्मा को भी उच्च पद दिया है और उनको प्रशंसनीय तथा पूजनीय भी बतलाया है । यही उदार-भाव यदि अन्य साम्प्रदायिक लेखकों में रहा होता तो हिन्दू धर्मका रूप अधिक उपयोगी और कल्याणकारी बनसकता था । पाठकों को इस पुराण का पठन-पाठन करते हुए इस तथ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए और अनुचित तथा हानिकारक 'धार्मिक कट्टरता'का त्याग करके धर्म में मंगलमय रूप को ही ग्रहण करना चाहिए ।

—❀—